जनसत्ता

24 मई, 2019

इतिहास का पन्ना

यह पहली बार है, जब किसी गैर-कांग्रेसी सरकार ने केंद्र में दुबारा बहुमत हासिल किया है। तमाम आकलनों, अनुमानों को निर्मूल साबित करते हुए भाजपा ने दूसरी बार अपने दम पर बहुमत हासिल कर लिया है। हालांकि मतदान पश्चात सर्वेक्षणों में भाजपा और उसके सहयोगी दलों को तीन सौ से चार सौ के बीच सीटें आने के संकेत मिले थे, पर बहुत सारे लोग उन्हें सही नहीं मान रहे थे। इसका आधार सिर्फ यह था कि इस बात पर किसी को विश्वास नहीं हो रहा था कि भाजपा अपना पिछला मत प्रतिशत कायम रख पाएगी। क्योंकि पिछले आम चुनाव में उसे सत्ता-विरोधी लहर का फायदा मिला था। कांग्रेस की अगुआई वाली यूपीए सरकार से लोगों में नाराजगी थी। इस बार वैसी कोई लहर नहीं थी, बल्कि सत्ता के पक्ष में भी कोई लहर नजर नहीं आ रही थी। नोटबंदी और जीएसटी जैसे फैसलों से सरकार के प्रति लोगों में व्यापक नाराजगी का अनुमान लगाया जा रहा था। फिर विपक्षी दलों ने इस बार कुछ अधिक ताकत के साथ अपने को चुनाव मैदान में उतारा था। क्षेत्रीय दलों से कड़ी चुनौती मानी जा रही थी। इसके अलावा उन राज्यों में भाजपा के नुकसान का अनुमान लगाया जा रहा था, जहां पिछली बार उसने सारी की सारी या फिर अधिकतम सीटों पर जीत हासिल की थी। खासकर उत्तर प्रदेश, मध्यप्रदेश, राजस्थान, छत्तीसगढ़ में बड़े नुकसान के कयास थे। हालांकि यहां हुए नुकसान की कुछ भरपाई पश्चिम बंगाल और ओड़ीशा से होने की उम्मीद की जा रही थी। इन सबके बीच कांग्रेस और उसके सहयोगी दलों को अच्छा-खासा फायदा मिलने का अनुमान लगाया जा रहा था। मगर नतीजों ने इन तमाम आकलनों पर पानी फेर दिया।

भाजपा की यह जीत न सिर्फ इस मायने में ऐतिहासिक है कि उसने दुबारा सत्ता में वापसी की है, बल्कि पहले की अपेक्षा अधिक सीटें हासिल की हैं। जहां उसके नुकसान के अनुमान लगाए जा रहे थे, वहां भी उसने अपनी हैसियत बरकरार रखी है। मध्यप्रदेश, छत्तीसगढ़ और राजस्थान के हाल ही संपन्न हुए विधानसभा चुनावों में मिली शिकस्त के बावजूद उसने लोकसभा चुनाव में अपना दबदबा कायम रखा। यही नहीं, कुछ नए राज्यों में अपनी धमाकेदार उपस्थिति बनाई है। पश्चिम बंगाल और ओड़ीशा के अलावा कर्नाटक में वह दमदार पार्टी के रूप में उभरी है। कर्नाटक विधानसभा चुनावों के बाद माना जा रहा था कि लोकसभा चुनावों में भी भाजपा को खासा नुकसान पहुंचेगा, पर ये अनुमान भी निर्मूल साबित हुए। उत्तर प्रदेश में उसके अधिक नुकसान का आकलन था, पर वहां भी उसे बहुत चोट नहीं पहुंची। जबकि वहां सपा और बसपा के गठजोड़ से जातीय समीकरण के चलते भारी उलटफेर का अनुमान था। महाराष्ट्र और गुजरात में भी उसे कोई बड़ी चुनौती नहीं मिल पाई। यानी पूरे देश के स्तर पर जनादेश उसके पक्ष में आया।

हालांकि विपक्षी दल लगातार सरकार के कामकाज के तरीके, अर्थव्यवस्था की कमजोर हालत, रोजगार और खेती-किसानी के मोर्चे पर निराशा आदि के विवरण देते रहे, कई क्षेत्रीय और जातीय समीकरण भी बनाए-बिठाए गए थे, पर वे भाजपा के खिलाफ काम नहीं आ सके तो उसकी कुछ वजहें साफ हैं। पहला तो यह कि विपक्ष पिछले पांच सालों में लगातार कमजोर दिखता रहा। इस तरह विपक्ष का कोई सशक्त चेहरा लोगों के सामने नहीं था। फिर चुनाव के वक्त गठबंधन करने में भी वे सफल नहीं हो पाए। चुनाव बाद सरकार बनाने के समीकरण बनाए जाने लगे। इन तमाम स्थितियों के बीच कांग्रेस के बड़ी विपक्षी पार्टी के रूप में उभरने की उम्मीद जताई जा रही थी। मगर हकीकत यही है कि कांग्रेस के प्रति लोगों का विश्वास बहाल नहीं हो पाया। प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी के सामने कांग्रेस अध्यक्ष हमेशा एक कमजोर और अनुभवहीन नेता ही नजर आते रहे। मौजूदा सरकार पर उस तरह के कोई भ्रष्टाचार के आरोप भी नहीं थे, जैसे यूपीए के समय कई कांग्रेसी नेताओं पर लगे थे। इसके अलावा कैडर के स्तर पर भाजपा की जैसी उपस्थिति पूरे देश में बूथ स्तर पर थी, वैसी कांग्रेस की नहीं थी। इन तमाम बातों के मद्देनजर लोगों में यह धारणा कायम रही कि नरेंद्र मोदी को एक मौका और दिया जाना चाहिए। अखिरकार यह चुनाव मुख्य रूप से भाजपा ने उनके चेहरे को सामने रख कर लड़ा था। लोगों में उनके प्रति विश्वास बना हुआ था, उनसे उम्मीदें कायम थीं, जिसकी परिणति इन नतीजों के रूप में हुई।

मुद्दों पर मतदान

सत्रहवीं लोकसभा के लिए हुए चुनावों के साथ-साथ तीन राज्यों- ओड़ीशा, आंध्र प्रदेश और अरुणाचल प्रदेश की विधानसभा के लिए भी मतदान हुआ। हालांकि इन राज्यों में विधानसभा चुनावों पर राष्ट्रीय स्तर पर चले प्रचार अभियानों की छाया मौजूद रही, लेकिन वोट पड़ने की प्रकृति में थोड़ी भिन्नता रही। शायद यही वजह है कि ओड़ीशा में जहां लोकसभा सीटों के लिए पड़े वोटों में भारतीय जनता पार्टी को खासी कामयाबी मिली, वहीं विधानसभा में बीजू जनता दल ने अपनी पकड़ बनाए रखी। मगर आंध्र प्रदेश में मुख्य टक्कर दो स्थानीय दलों में रही। वहां वाईएसआर कांग्रेस पार्टी ने तेलुगू देशम के मुकाबले काफी अच्छी बढ़त बनाई। मगर अरुणाचल प्रदेश में भाजपा ने लोकसभा और विधानसभा, दोनों में एक बार फिर अपनी मजबूत उपस्थिति दर्ज की।

दरअसल, कई बार चुनावों के नतीजे इस बात पर भी निर्भर करते हैं कि वहां के मतदाताओं के सामने मुद्दे कौन-से और किस तरह रखे गए। ओड़ीशा में विधानसभा और लोकसभा के लिए मतदाताओं के वोट लेने के लिए स्थानीय और राष्ट्रीय मुद्दों के बीच टकराव रहा। मसलन, अपराधों के मामले में सख्त कार्रवाई का भरोसा भाजपा और बीजद, दोनों ने दिया। पर शायद मतदाता किसी खास ऊहापोह में नहीं पड़े। वहां नवीन पटनायक की सरकार ने अपने कामकाज को मुख्य मुद्दा बनाया और इसने मतदाताओं को प्रभावित किया। लोगों ने बीजद को ही फिर से सत्ता सौंपने का फैसला किया। वहीं, आंध्र प्रदेश की लोकसभा और विधानसभा के लिए हुए चुनावों में प्रथम दृष्टया ही सत्ता विरोधी लहर दिखी थी। प्रचार के दौरान जाति और भ्रष्टाचार भी प्रमुख मुद्दे के रूप में काम करते दिखे।

लेकिन इन सबके बीच यह एक अहम तथ्य है कि वाइएसआर कांग्रेस पार्टी के नेता जगनमोहन रेड्डी ने पिछले तीन सालों में जमीनी स्तर पर काफी मेहनत की थी। शायद इसी का असर चुनाव परिणामों पर साफ दिखा और उन्होंने न केवल विधानसभा, बल्कि लोकसभा सीटों पर भी तेलुगू देशम को काफी पीछे छोड़ दिया। इसके अलावा, अरुणाचल प्रदेश में पहले ही इस बात के संकेत मिल गए थे कि स्थानीय बनाम बाहरी एक मुख्य मुद्दा होगा। इस मसले पर वहां की भाजपा सरकार ने लोगों के रुख को देखते हुए अपने फैसले भी बदले और शायद इसी का फायदा उसे चुनावों में स्पष्ट रूप से मिला। जाहिर है, इन तीनों राज्यों के मतदाताओं के सामने मुद्दे इस तरह थे कि उसमें उनके उलझने और भ्रमित होने की गुंजाइश थी। लेकिन उन्होंने राज्य और देश की सरकार चुनने के लिए अपने पैमाने का इस्तेमाल किया और जहां के लिए जो जरूरी लगा, उसे वोट दिया। कहा जा सकता है कि इन तीनों राज्यों की विधानसभा चुनावों के नतीजों ने मिला-जुला असर सामने रखा।

कल्पमेधा

यदि मनुष्य पाप कर ले तो उसे न दोहराए, न छिपाए और न उसमें लगा रहे। पाप का संचय ही सब दुखों की जड़ है।
-गौतम बुद्ध

चिकित्सा शिक्षा के इलाज की दरकार

प्रमोद भार्गव

चिकित्सा के स्नातकोत्तर पाठ्यक्रमों में सीटें खाली रह जाने के आंकड़े चिंताजनक हैं। इसके दो कारण गिनाए जा रहे हैं। एक तो यह कि इन पाठ्यक्रमों की प्रवेश परीक्षा के लिए योग्य अभ्यर्थी पर्याप्त संख्या में नहीं मिले। दूसरे, जो योग्य विद्यार्थी मिले भी, उन्होंने इन पाठ्यक्रमों में पढ़ने से मना कर दिया। यह स्थिति तब है जब विश्व बैंक की एक रिपोर्ट के मुताबिक 33 प्रतिशत भारतीय चिकित्सक डिग्री हासिल करने के बाद विदेश चले जाते हैं।

देश में हर साल पचास हजार चिकित्सक महाविद्यालयों से डिग्री लेकर निकलते हैं। वैश्विक स्तर पर भारतीय चिकित्सकों की अच्छी साख है। दुनिया की सबसे बड़ी चिकित्सा शिक्षा प्रणाली भी भारत में है। इसके बावजूद हमारे मेडिकल कॉलेजों में नए शोध नहीं हो रहे हैं। स्नातकोत्तर पाठ्यक्रमों की सीटें भी बड़ी संख्या में हर साल खाली रह जाती हैं। इन कमियों का खुलासा चिकित्सकों की महत्त्वपूर्ण संस्था एसोसिएशन ऑफ डिप्लोमैट नेशनल बोर्ड ने किया है। देश के कुल 576 चिकित्सा संस्थानों में से 332 ने एक भी शोध-पत्र प्रकाशित नहीं किया है। नए शोध अनुसंधान, नवाचार एवं अध्ययन-प्रशिक्षण का आधार होते हैं। यदि आधे से ज्यादा कॉलेजों में अनुसंधान नहीं हो रहे हैं, तो क्या इनसे पढ़ कर निकलने वाले चिकित्सकों की योग्यता व क्षमता विश्वसनीय रह जाएगी? दरअसल, हर स्नातकोत्तर छात्र को अंतिम परीक्षा के लिए मौलिक विषय व अनुसंधान से जुड़ा एक शोध-पत्र लिखना होता है। इसे थीसिस कहते हैं। यदि थीसिस नहीं लिखाई जा रही हैं, तो इससे उन शिक्षकों की योग्यता पर भी सवाल उठता है, जो थीसिस का विषय सुझाने के साथ मार्गदर्शक भी होते हैं। तब क्या यह मान लिया जाए कि मोटा वेतन लेने वाले चिकित्सा शिक्षक भी नवीन अध्ययन, चिंतन व मनन की परंपरा से किनारा करते जा रहे हैं! वैसे भी चिकित्सा शिक्षा से लेकर अन्य विषयों के ज्यादातर शोधों में गंभीरता दिखाई नहीं दे रही है। इसके पीछे शिक्षकों का निरंतर अध्ययनरत नहीं रहना एक बड़ा कारण है।

अब तक सरकारी चिकित्सा संस्थानों की शैक्षिक गुणवत्ता पर सवाल उठते रहे हैं, लेकिन ध्यान रहे कि लगभग साठ प्रतिशत मेडिकल कॉलेज निजी क्षेत्र में हैं। ये संस्थान छात्रों से भारी-भरकम शुल्क तो वसूलते ही हैं, कैपीटेशन फीस लेकर प्रबंधन के कोटे में छात्रों की सीधी भर्ती करते हैं। ऐसे में छात्रों को शोध का अवसर नहीं देना चिकित्सा शिक्षा और छात्र के भविष्य के साथ खिलवाड़ है। दूसरी तरफ चिकित्सकों को उपचार की विशेषज्ञता हासिल कराने वाले स्नातकोत्तर पाठ्यक्रमों में सैकड़ों सीटें खाली रह जाती हैं। यह स्थिति भी शोध-पत्र नहीं लिखे जाने की एक वजह है। चिकित्सा से इतर विषयों के डिग्रीधारियों के लिए नौकरियों में कमी की बात तो समझ में आती है, कोई एमबीबीएस बेरोजगार हो, यह जानकारी नहीं मिलती! फिर क्या पीजी पाठ्यक्रमों में सीटें खाली रह जाना, निपुण छात्रों के अभाव का सूचक है या फिर छात्र स्वयं गंभीर पाठ्यक्रमों से दूर भाग रहे हैं? या फिर चिकित्सकों के सम्मान में जो कमी आई है और अस्पतालों में उन पर इलाज में लापरवाही का आरोप लगा कर जो हमले हो रहे हैं, उस भय की वजह से छात्र पीछे हट रहे हैं? अथवा भारतीय चिकित्सा परिषद के विधान में संशोधन कर वैकल्पिक चिकित्सा से जुड़े चिकित्सकों को एक सेतु-पाठ्यक्रम के जरिए ऐलोपैथी चिकित्सा करने की जो छूट दिए जाने की कवायद चल रही है, उसकी वजह से सीटें रिक्त रह जाती हैं?

जब कोई प्रचलित व्यवस्था संकट में आती है, तो कई संदेह और सवालों का उठना लाजिमी है क्योंकि चिकित्सा के स्नातकोत्तर पाठ्यक्रमों में खाली सीटें रह जाने के आंकड़े चिंताजनक हैं। इसके दो कारण गिनाए जा रहे हैं। एक तो यह कि इन पाठ्यक्रमों की प्रवेश परीक्षा के लिए योग्य अभ्यर्थी पर्याप्त संख्या में नहीं मिले। दूसरे, पीजी के लिए जो योग्य विद्यार्थी मिले भी, उन्होंने इन पाठ्यक्रमों में पढ़ने से मना कर दिया। यह स्थिति तब है, जब विश्व बैंक की एक रिपोर्ट के मुताबिक 33 प्रतिशत भारतीय चिकित्सक डिग्री हासिल करने के बाद विदेश चले जाते हैं। इनमें से डेढ़ हजार डॉक्टर अमेरिका का रुख करते हैं।

ऐलोपैथी चिकित्सा विशेषज्ञों का मानना है कि आज के विद्यार्थी उन पाठ्यक्रमों में अध्ययन करना नहीं चाहते, जिनमें विशेषज्ञता प्राप्त करने में लंबा समय लगता है। इसके उलट वे ऐसे पाठ्यक्रमों में दक्षता हासिल करना चाहते हैं जहां जल्दी ही विशेषज्ञता की उपाधि प्राप्त कर धन कमाने के अवसर मिल जाते हैं। गुर्दा, नाक, कान, दांत, गला रोग एवं विभिन्न तकनीकी जांच विशेशज्ञ 35 साल की उम्र पर पहुंचने के बाद शल्यक्रिया शुरू कर देते हैं, जबकि हृदय और तंत्रिका-तंत्र विशेषज्ञों को यह अवसर 40-45 साल की उम्र बीत जाने के बाद मिलता है। साफ है कि दिल और दिमाग का मामला बेहद नाजुक है, इसलिए इनमें लंबा अनुभव भी जरूरी है। लेकिन कल को यह समस्या बनी रही तो भविष्य में इन रोगों के उपचार से जुड़े चिकित्सकों की कमी होना तय है। इस व्यवस्था में कमी कहां है, इसे ढूंढ़ना और फिर उसका निराकरण करना तो सरकार और ऐलोपैथी शिक्षा

से जुड़े लोगों का काम है, लेकिन फिलहाल इसके कारणों की पृष्ठभूमि में भारतीय चिकित्सा परिषद को खारिज कर 'राष्ट्रीय चिकित्सा परिषद' यानी बनाना और चिकित्सा शिक्षा का लगातार महंगी होते जाना तो नहीं?

2016 में राष्ट्रीय चिकित्सा परिषद बनाने का मकसद चिकित्सा शिक्षा के गिरते स्तर को सुधारना, इस पेशे को भ्रष्टाचार मुक्त बनाना और निजी चिकित्सा महाविद्यालयों के अनैतिक गठजोड़ को तोड़ना था। लेकिन जब एनएमसी विधेयक का प्रारूप तैयार हुआ और उसका विशेषज्ञों ने मूल्यांकन किया तो आभास हुआ कि कालांतर में यह विधेयक कानूनी रूप ले लेता है तो इससे आधुनिक ऐलोपैथी चिकित्सा ध्वस्त हो जाएगी। इसकी खामियों को देखते हुए ही एमबीबीएस चिकित्सक इसके विरोध में खड़े हो गए। इस विधेयक की सबसे प्रमुख खामी है कि आयुर्वेद, होम्योपैथी और यूनानी चिकित्सक भी सरकारी स्तर पर एक छोटा कोर्स करके वैधानिक रूप से ऐलोपैथी चिकित्सा करने के हकदार हो जाएंगे। हालांकि अभी भी इनमें से ज्यादातर चिकित्सक बेखटके ऐलोपैथी की दवाएं लिखते हैं, पर यह व्यवस्था अभी गैर-कानूनी है। दरअसल, उपचार की हरेक पद्धति सैकड़ों साल के प्रयोग व प्रशिक्षण से परिपूर्ण हुई है। सबकी पढ़ाई भिन्न है। रोग के लक्षणों को जानने के तरीके और दवाएं भी भिन्न हैं। ऐसे में चार-छह माह की पढ़ाई करके कोई भी वैकल्पिक चिकित्सक ऐलोपैथी का डॉक्टर नहीं हो सकता?

एमबीबीएस और इससे जुड़े विषयों में पीजी में प्रवेश बहुत कठिन होता है। एमबीबीएस में कुल 67,218 सीटें हैं। विश्व स्वास्थ्य संगठन 1000 की आबादी पर एक डॉक्टर की मौजदूगी अनिवार्य मानता है, लेकिन हमारे यहां यह अनुपात 0.62.1000 है। 2015 में राज्यसभा में केंद्रीय स्वास्थ्य मंत्री जेपी नड्डा ने बताया था कि 14 लाख ऐलोपैथ चिकित्सकों की कमी है। अब यह कमी 20 लाख हो गई हैं। इसी तरह 40 लाख नर्सों की कमी है। इसके बावजूद एमबीबीएस शिक्षा के साथ कई तरह के खिलवाड़ हो रहे हैं। कायदे से उन्हीं छात्रों को मेडिकल कॉलेज में प्रवेश मिलना चाहिए जो सीटों की संख्या के अनुसार नीट परीक्षा से चयनित हुए हैं। लेकिन आलम है कि जो छात्र दो लाख से ऊपर की रैंक में हैं, उन्हें भी धन के बूते प्रवेश मिल जाता है। यह स्थिति इसलिए बनी हुई है कि जो मेधावी छात्र निजी कॉलेज की फीस अदा करने में सक्षम नहीं हैं, वे मजबूरीवश अपनी सीट छोड़ देते हैं। बाद में इसी सीट को निचली श्रेणी में स्थान प्राप्त छात्र खरीद कर प्रवेश पा जाते हैं।

इस सीट की कीमत 60 लाख से एक करोड़ तक होती है। मतलब यह कि जो छात्र एमबीबीएस में प्रवेश की पात्रता नहीं रखते हैं, वे अपने अभिभावकों की अनैतिक कमाई के बूते इस पवित्र और जिम्मेवार पेशे के पात्र बन जाते हैं। ऐसे में इनकी अपने दायित्व के प्रति कोई नैतिक प्रतिबद्धता कितनी होगी यह समझा जा सकता है। अपने बच्चों को हर हाल में मेडिकल और आईटी कॉलेजों में प्रवेश दिलाने की यह महत्त्वाकांक्षा रखने वाले अभिभावक यही तरीका अपनाते हैं। देश के सरकारी कॉलेजों का एक साल का शुल्क महज चार लाख है, जबकि निजी विश्वविद्यालय और महाविद्यालयों में यही शुल्क 64 लाख है। यही धांधली एनआरआई और अल्पसंख्यक कोटे के छात्रों के साथ बरती जा रही है। एमडी में प्रवेश के लिए निजी संस्थानों में जो प्रबंधन के अधिकार क्षेत्र और अनुदान आधारित सीटें हैं, उनमें प्रवेश शुल्क की राशि दो करोड़ से पांच करोड़ है। इसके बावजूद सामान्य प्रतिभाशाली छात्र के लिए एमबीबीएस परीक्षा कठिन बनी हुई है।

खौफ की दुनिया

राजकुमारी

दुनिया मेरे आगे

हमारे आसपास लोगों के मुंह से ऐसे 'आशीर्वचन' आम हैं कि 'जीते रहो, दूध-बताशे पीते रहो', 'दूधो नहाओ, पूतो फलो'। ऐसे 'आशीर्वचन' हम औरतें बुजुर्ग होकर भी कभी बेटी के फलने फूलने को लेकर फूटे मुंह से भी नहीं बोल पातीं। पिछले कई वर्षों से बलात्कार के मामलों को तेजी से बढ़ते देखा। छह महीने की उम्र से लेकर पांच साल या उससे भी कम उम्र की बच्चियों से बलात्कार और बर्बरता के चरम के रूह कंपा देने वाले ब्योरे पढ़े-सुने। युवतियों के खिलाफ असामाजिक तत्त्वों के साथ-साथ नजदीकी रिश्तेदारों और यहां तक कि सौतेले बाप, भाई, प्रेमी तक के अपराध ने दिल दहला दिया। 'कसूर' महज उनका स्त्री होना।

नाबालिग या बालिग- सभी महिलाएं इस तरह की क्रूरता को झेल रही हैं। बहुत-से ऐसे भी मामले हैं जो गड़े पड़े रह जाते हैं। बाप, भाई, पड़ोसी, रिश्तेदार, ससुर, जेठ, देवर आदि से होने वाले शारीरिक शोषण के विरुद्ध उठी आवाज को अभी वह इज्जत नहीं मिली है, जो किसी स्त्री के भीतर थोड़ी हिम्मत भरे। ऐसे मामले सामने आने पर आमतौर पर उसके मौखिक भयाक्रांत परिणाम सुना कर ही दबा दिया जाता रहा है।

हम ही जन्म देती हैं ऐसे लोगों को और ये हमें ही नहीं बख्शते। मुझे लगता है कि कमी हममें है जो ऐसे लड़कों या पुरुषों की अपने ऊपर आपराधिक दृष्टि का आभास होते हुए भी समय पर इन्हें समाज के कठघरे में नहीं खड़ा करतीं। बल्कि इनके अपराधों का शिकार होकर इनका जवाब देने, इन्हें बेनकाब करने के बजाय उल्टे शिशु मृग-सी आंखें चुरा कर हम स्त्रियां खुद ही छिपने लगती हैं। ऐसे मामले आम हैं जिनमें ऐसे घिनौने कृत्यों के बाद पीड़ित बच्ची को ही चुप रहने की हिदायत दी जाती है, यह कह कर कि बात खुली तो परिवार की इज्जत खराब हो जाएगी।

कुंठा ऐसी कि झट से कह दिया जाता है कि लड़कियां शरीर दिखाने वाले कपड़े पहनती हैं तो निशाने पर आएंगी। लेकिन घरों में समूचे शारीरिक अंगों को ढकने के बाद भी, पूरे भारतीय परिधान वाली औरतें भी कहां नहीं पुरुषों की हवस का शिकार बनती हैं! खेत-खलिहानों, सरेआम बाजारों, अंधेरे बंद कमरों या कोठरियों में..!

पीछे मुड़ कर देखने से क्या लाभ! जो सबको याद हो, वही बात करते हैं। न उसने छोटी स्कर्ट पहन रखी थी, न वह किसी पुरुष मित्र के साथ आधी रात को कहीं से आ रही थी, न वह बच्ची थी। वह किसी की बीवी थी, बहन थी, बेटी थी। वह कमजोर परिवार से थी, दलित थी। उसे जिस बर्बरता का शिकार होना पड़ा, वह कल्पना भी दहलाती है। हां, थानागाजी जैसी रोंगटे खड़े कर देने वाली शर्मनाक घटना इसी दौर में घटी। सामूहिक बलात्कार, बर्बरता और असभ्यता का चरम। वीडियो बना कर बाद में भी शोषण-दमन। लानत है ऐसे मर्दों पर जो इस प्रकार के कुकृत्य करते हैं।

लेकिन कुछ दिनों बाद हमारी-आपकी बुद्धिमता फिर नई घटना पर सोचने लगेगी। दुखद, शर्मनाक, ऐसा होना चाहिए, वैसा होना चाहिए जैसे विचार जाहिर कर हम तब तक के लिए शांत हो जाएंगे, जब तक वैसा ही नया कुछ न घट जाए। सच क्या है? औरतें सबसे ज्यादा असुरक्षित हैं देश में। सरेआम नोची जा रही हैं। समाज के अंधे-बहरे लोगों को चीखें भी सुनाई नहीं देतीं। उनके चेहरे पर कहीं शर्म नहीं दिखती। वे कब और किन हालात में समझने और तकलीफ महसूस करने की कोशिश करेंगे! वक्त का पहिया कभी भी घूम सकता है।

अपराध में डूबे ऐसे मनचलों की यौवन-वितृष्णा ने स्त्रियों का हमेशा ही शोषण कर उनकी जुबान पर ताला जड़ने का काम किया है। देवालयों से लेकर वेश्यालय तक इनकी बेशर्मी और औरतों की चीखों के ऐतिहासिक गवाह रहे हैं। धर्म की आड़ में पनपता जिस्मानी धंधा 'मुंह में राम, बगल में छुरी' जैसा दृश्य सामने करता है। कार्यस्थलों पर अधिकारियों से लेकर सहयोगियों तक का बर्ताव छिपा नहीं है।

दूसरा पक्ष यह है कि गरीबों के लिए उनकी गरीबी एक जानलेवा समस्या है। अबोधों को उनके अनजानेपन की वजह से शिकार बना लिया जाता है। संबंधी अपनेपन का फायदा उठा कर लड़कियों को चुप करा देते हैं। समझदारी वाली युवतियों के खिलाफ जबर्दस्ती। जाहिर है, मरना स्त्री को ही है। जिन 'कोठों' को समाज गंदा कहता है, 'नाइट बार' की कॉल गर्ल्स', देह-व्यापार में धकेली गई युवतियां- ये सब स्त्रियां इस आपराधिक मर्द जाति की देन हैं। कानून और प्रशासन आपराधिक नींद में सोता है। नतीजतन, ऐसे मामले थमने का नाम नहीं ले रहे। 'अबला' से सबला और फिर अबलाओं की नई जमात बनाने को तत्पर यह पुरुषप्रधान देश। अश्लीलता का ठेका पुरुषों ने लिया हुआ है और अंगुलियां उठती हैं स्त्रियों पर। निर्मम हत्याओं का सिलसिला खत्म होने का नाम नहीं ले रहा। इस पुरुष प्रधान समाज में सत्ताधारी तबकों ने अपने लिए कोई दंड निर्धारित नहीं किया है। बेखौफ घूमते दरिंदे कौन हैं? मुझे भय है कि कहीं अराजक अपराधों का दौर सब कुछ नष्ट न कर दे!

चौपाल

किसी भी मुद्दे या लेख पर अपनी राय हमें भेजें। हमारा पता है : ए-8, सेक्टर-7, नोएडा 201301, जिला : गौतमबुद्धनगर, उत्तर प्रदेश

आप चाहें तो अपनी बात ईमेल के जरिए भी हम तक पहुंचा सकते हैं। आइडी है : chaupal.jansatta@expressindia.com

संकट की दस्तक

मई महीने की शुरुआत में ही बढ़ते तापमान के साथ देश के कुछ भागों में जल संकट और सूखे के संकेत मिलने लगे थे। अब महाराष्ट्र की डेढ़ सौ तहसीलें सूखे से प्रभावित बताई जा रही हैं और उत्तर भारत के भी कुछ हिस्से जल संकट की गिरफ्त में हैं। इसी बीच जहां एक ओर मानसून पूर्व मार्च-अप्रैल में होने वाली बारिश में 27 फीसद की कमी देखी गई वहीं आगामी मानसून पर अल-नीनो (पूर्वी प्रशांत महासागर में होने वाली उथल-पुथल के कारण बारिश में कमी) का संकट बताया जा रहा है जिसके चलते सामान्य से लगभग चार फीसद कम बारिश के आसार हैं। आंकड़ों की मानें तो भारत में विश्व की अठारह फीसद आबादी रहती है और उसके लिए उपलब्ध जल स्रोत विश्व की तुलना में सिर्फ चार फीसद है। नतीजतन, 2018 की नीति आयोग की रिपोर्ट कहती है कि हम 2030 तक एक गंभीर जल संकट की ओर बढ़ रहे हैं। ऐसे में बड़ा सवाल यह है कि पानी की उपलब्धता और उसकी खपत के बीच की खाई को कैसे भरा जाए?

इस संकट से निपटने के लिए सबसे पहले उपलब्धता प्रबंधन से ज्यादा उपयोगिता प्रबंधन पर ध्यान देना होगा। नागरिकों में जागरूकता लाने के साथ-साथ उन पर पानी के सीमित उपयोग के लिए दबाव बनाना होगा। दूसरा, चूंकि करीब 80 फीसद पानी कृषि सिंचाई में उपयोग होता है, ऐसे में सूखे और पानी की मार झेल रहे राज्यों के किसानों को कम पानी वाली फसलें उगाने के लिए प्रोत्साहित करना होगा। बारिश के सामान वितरण में बड़े अंतर के चलते प्राकृतिक और मानव निर्मित दोनों तरह के जल संरक्षण साधनों मसलन, बांध, वाटर हार्वेस्टिंग, जलाशय आदि पर गंभीरता से प्रयास करने होंगे।

अंततः जलवायु परिवर्तन से उपजे इस संकट से निपटने के लिए सरकार और नागरिकों को मिलकर गंभीरता से काम करना होगा ताकि उस संकट से पार पाया जा सके जिसके संकेत दिखाई दे रहे हैं।

● *संजय दुबे, नई दिल्ली*

ताक पर मर्यादा

हाल ही में संपन्न सत्रहवीं लोकसभा के चुनाव में विभिन्न राजनीतिक दलों द्वारा राजनीतिक मर्यादाओं का उल्लघंन किया गया। यह कोई नई बात नहीं है, बल्कि यह भारतीय लोकतंत्र का एक काला सच है जिसमें अमूमन धारणा है यहां चुनाव 'काम के बूते नहीं बल्कि भावना के दम पर' जीता जाता है। विभिन्न राजनीतिक दल जनता की इसी भावुकता का फायदा उठा कर उसे वोट में रूपांतरित करते आ रहे हैं।

इस लोकसभा चुनाव में जहां प्रधानमंत्री पद की गरिमा का विपक्षी दलों ने ध्यान नहीं रखा तो वहीं दूसरी ओर राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के कातिल को भी नमन किया गया क्योंकि कहा जाता है कि देश का एक कट्टर वर्ग इससे खुश होता है। आम जनता को इन सब राजनीतिक हथकंडों से कुछ विशेष फायदा नहीं होने वाला। अगर गौर किया जाए तो ऐसे बयान अपरिपक्व राजनेताओं द्वारा दिए जाते हैं जो चुनावी बरसात में ही जन्म लेते हैं। ऐसे बयान जो उन्माद को बढ़ावा दें उनसे राजनीतिक दलों को यह कह कर पल्ला नहीं झाड़ना चाहिए कि ये अमुक नेता के निजी विचार हैं। राजनीतिक दल उचित व परिपक्व लोगों को ही टिकट दें। इसके लिए आवश्यक है कि दलों के अंदर एक संहिता हो, एक कैडर हो जिसमें वे अपने कार्यकर्ताओं को प्रशिक्षण दें और अपनी विचारधारा से भलीभांति अवगत कराएं। उसके बाद टिकट दें। इससे योग्य नेता तैयार होंगे और कुशल नेतृत्व के अभाव और दलबदल जैसी समस्याएं समाप्त हो सकती हैं।

● *अनूप जैन, दिल्ली विश्वविद्यालय*

कमजोर बचपन

एक नए अध्ययन से पता चला है कि भारत में किशोरावस्था में बच्चों को जन्म देने वाली माताओं के बच्चे वयस्क महिलाओं के बच्चों की तुलना में कमजोर होते हैं। अमेरिका के अंतरराष्ट्रीय खाद्य नीति शोध संस्थान का कहना है कि भारत में कमजोर बच्चे बड़ी तादाद में हैं और वह इस मामले में विश्व में दसवें नंबर पर है। वैसे तो हमारे देश में अठारह साल से कम उम्र की लड़कियों का विवाह गैरकानूनी है लेकिन 2016 के राष्ट्रीय परिवार एवं स्वास्थ्य सर्वेक्षण ने खुलासा किया कि सत्ताईस फीसद लड़कियों का विवाह अठारह साल की उम्र से पहले ही हो जाता है। देश में इकतीस फीसद विवाहित महिलाएं अठारह साल की उम्र में बच्चे को जन्म देती हैं। इसके मद्देनजर सरकार द्वारा बाल-विवाह निषेध कानून को सख्ती से लागू करने की जरूरत है।

● *संजू कुमार, चौबारा, हनुमानगढ़, राजस्थान*

बढ़ती शराबखोरी

भारत में शराब की बढ़ती खपत का मुख्य कारण युवाओं का इसके प्रति आकर्षण है। विडंबना है कि लोक कल्याणकारी राज्य होने के बावजूद सरकारें राजस्व के लालच में शराब की खपत पर अंकुश लगाने को तैयार नहीं हैं। इसका दूसरा पहलू यह है कि अत्यधिक शराब के सेवन से लोगों के स्वास्थ्य पर खतरा मंडराना शुरू हो गया है। अगर शराब की खपत पर लगाम नहीं लगी तो देश में शराब जन्य रोगों में भारी वृद्धि होगी। एक ओर जहां सरकार आयुष्मान भारत और अन्य योजनाओं के जरिए लोगों का स्वास्थ्य सुधारने के लिए प्रयासरत है तो वहीं दूसरी ओर शराब की खपत कम होने के बजाय बढ़ रही है।

अफसोस की बात है कि जिन राज्यों में शराबबंदी है वहां भी इसका कड़ाई से पालन नहीं हो रहा है। कई राज्य सरकारें तो शराब की खपत बढ़ाने की नीति पर काम कर रही हैं। विश्व स्वास्थ्य संगठन के प्रमुख टेडरोस ने कहा है कि शराबखोरी की बढ़ती प्रवृत्ति पर अंकुश लगाने और वर्ष 2010 से 2025 के बीच इसकी वैश्विक खपत में दस प्रतिशत की कटौती का लक्ष्य हासिल करने की दिशा में कदम उठाया जाना चाहिए, ताकि एक स्वस्थ विश्व का निर्माण किया जा सके। शराब के सेवन के कारण समाज में अपराध और बलात्कार की घटनाएं भी बढ़ रही हैं। एक कल्याणकारी राज्य की जिम्मेदारी होती है कि वह अपने नागरिकों के लिए बेहतर स्वास्थ्य, समाज में शांति और समृद्धि का वातावरण निर्मित करे। लेकिन यह तभी संभव होगा जब समाज मानसिक रूप से स्वस्थ और नशामुक्त होगा।

● *शादाब हुसैन खान, मांझी, छपरा, बिहार*